

मीडिया के चश्मे से तालीम का अधिकार

लोकेश मालती एवं निशा थापलियाल

सामाजिक व राजनीतिक जीवन में प्रिंट मीडिया, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और पिछले एक-दो दशक से इंटरनेट के माध्यम से उभरे सोशल मीडिया व वैकल्पिक मीडिया का प्रभाव बहस का बड़ा मुद्दा रहा है। इस बारे में तमाम सहमतियों-असहमतियों के बावजूद सार्वजनिक विमर्श में मीडिया के हस्तक्षेप को महत्वपूर्ण माना गया है। ऐसे में लाजमी है कि मीडिया से यह उम्मीद की जाए कि बुनियादी सामाजिक-आर्थिक अधिकारों को लेकर जागरूकता लाने में और इस बारे में होने वाले सार्वजनिक विमर्श को समृद्ध करने में भी वह सशक्त भूमिका निभाएगा। लेकिन इस संदर्भ में हुए कई अंतर्राष्ट्रीय अध्ययनों में मीडिया एक अलग तरह की भूमिका में नजर आता है। अगर हम खासतौर से तालीम की बात करें तो मीडिया की भूमिका में एक खास तरह का पक्षपात देखने को मिलता है। मुख्यधारा के मीडिया में - खासतौर से जिसे व्यावसायिक या लाभ-आधारित मीडिया कह सकते हैं - तालीम के क्षेत्र में निजी हस्तक्षेपों, मुनाफा-आधारित उपक्रमों और मध्यम वर्गीय हितों व विचारों को ज्यादा तरजीह देने की प्रवृत्ति देखने को मिली है। कॉरपोरेट हितों की विचारधारा महज मार्केटिंग रणनीतियों को नहीं बल्कि खबरों के चयन, संपादन, और प्रस्तुतिकरण को भी प्रभावित करती है। इसका असर सामाजिक मुद्दों से जुड़े मसलों की रिपोर्टिंग में भी देखा गया है।

अगर हम भारत की बात करें तो यहां सामाजिक-आर्थिक अधिकारों के बारे में सार्वजनिक विमर्श मोटे तौर पर अभी कमजोर ही है। तालीम या स्वास्थ्य को नागरिक के बुनियादी अधिकार की बजाय राज्य या निजी संस्थाओं के 'कल्याणकारी' या 'परोपकारी' भूमिका के संदर्भ में रखकर देखने की प्रवृत्ति हावी है। ऐसे में मीडिया की भूमिका और भी संवेदनशील हो जाती है। गौरतलब है कि भारत में तालीम और मीडिया की भूमिका को लेकर शोध व अध्ययन अभी शुरुआती दौर में ही हैं।

इस परिदृश्य को ध्यान में रखते हुए हमने मीडिया में स्कूली तालीम से जुड़े मसलों की रिपोर्टिंग का अध्ययन किया, खासतौर से शिक्षा अधिकार कानून 2009 के संदर्भ में। यहां यह कहना भी प्रासंगिक होगा कि शिक्षा अधिकार कानून 2009 में 'मुफ्त' तालीम के अधिकार का दावा तो जरूर किया गया है मगर जिन बुनियादी असमानताओं के कारण देश के अधिकांश बच्चे इससे वंचित रहे हैं उनसे जूझने का कोई रास्ता इस कानून में नहीं है। इसके उलट, इस कानून ने इस गैर-बराबरी पर टिकी व्यवस्था को औपचारिक कानूनी स्वीकृति और समर्थन दिया है। गौरतलब है कि इस कानून के लागू होने के बाद न सिर्फ स्कूली तालीम में निजीकरण की रफ्तार बढ़ी है बल्कि सरकारी स्कूलों के बंद होने की समानांतर प्रक्रिया भी शुरू हुई है। इस अध्ययन में हमने यह देखने की कोशिश की है कि मीडिया - खासतौर से प्रिंट मीडिया - इस विमर्श - में किस तरह की भूमिका निभा रहा है।

यह अध्ययन कुछ प्रमुख हिंदी व अंग्रेजी अखबारों में 1 फरवरी से 15 अप्रैल 2018 के बीच प्रकाशित स्कूली तालीम से जुड़ी खबरों व अन्य सामग्री के विश्लेषण पर आधारित है। हिंदी के अखबार हैं - अमर उजाला - (दिल्ली), दैनिक जागरण (दिल्ली) और दैनिक भास्कर (भोपाल), अंग्रेजी अखबारों में टाइम्स ऑफ इंडिया, द हिंदू, द हिंदुस्तान टाइम्स और इंडियन एक्सप्रेस - शामिल हैं। इस आलेख में हमारे विश्लेषण के केंद्र में खासतौर से हिंदी अखबार हैं। इन अखबारों में प्रकाशित सामग्री की विषयवस्तु के विश्लेषण के आधार पर हमने कुछ प्रमुख मुद्दों की पहचान की है जिनकी चर्चा नीचे की गई है।

स्कूलों में दाखिला, निजी स्कूल और शिक्षा अधिकार कानून

स्कूलों में दाखिले की खबरों में सबसे महत्वपूर्ण बात यह दिखी कि इन अखबारों में दाखिले से जुड़ी तीस से ज्यादा खबरों में से महज पांच खबरों का ही मुख्य विषय सरकारी स्कूलों में दाखिले का मसला है। इसमें दिल्ली सरकार द्वारा संचालित सर्वोदय और एक्सलेंस स्कूलों में दाखिले की खबरें भी शामिल हैं। लेकिन साधारण सरकारी स्कूलों में दाखिले की खबरें नहीं हैं। ऐसा लगता है कि साधारण सरकारी स्कूलों में दाखिला लेने को ऐसी महत्वहीन घटना मान लिया गया है जिसके लिए अखबार में कोई जगह खर्च करना बेमानी है।

यह सही है कि पिछले कुछ सालों में निजी स्कूलों में दाखिला लेने वाले बच्चों की संख्या में इजाफा हुआ है लेकिन स्कूलों की संख्या और दाखिला लेने वाले बच्चों की संख्या दोनों मामलों में सरकारी स्कूल अब भी आगे हैं। इसके बावजूद निजी स्कूलों को जिस तरह की जगह दी गई है उसकी व्याख्या कई तरीकों से की जा सकती है - पहला यह कि इन अखबारों का जो पाठक वर्ग है उसकी दिलचस्पी और सरोकार निजी स्कूलों से ही जुड़े हुए हैं; दूसरा कि निजी स्कूलों को ज्यादा जगह देकर उनके पक्ष में मीडिया एक रुझान बनाने का काम भी कर रहा है; और तीसरा यह कि इन अखबारों के जो कर्ता-धर्ता हैं वे खुद भी निजी स्कूलों के 'बेहतर' होने के नव-उदारवादी विचारधारात्मक मिथक में यकीन करते हैं।

निजी स्कूलों में दाखिले से जुड़ी खबरें मुख्य रूप से दो किस्म की हैं- पहली, नर्सरी दाखिले की और दूसरी, शिक्षा अधिकार कानून के तहत आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के लिए निर्धारित 'कोटा' के तहत दाखिले की। ध्यान देने की बात है कि इन खबरों में निजी स्कूलों के प्रबंधन की गड़बड़ियों को और उनके कारण बच्चों के अभिभावकों को होने वाली परेशानियों को प्रमुखता से उठाया गया है। दाखिले के लिए जमा पैसों की भरपाई में कोताही, सही सूचनाएं देने में लापरवाही, दाखिले की तारीखों में बदलाव आदि जैसे मसले उठाए गए हैं और इनमें अभिभावकों के पक्ष को उनके लफ्जों में भी रखा गया है। हमने यह पाया कि निजी स्कूलों में दाखिले के मामले में मीडिया काफी चौकसी बरत रहा है।

इस चौकसी की एक वजह यह हो सकती है कि निजी स्कूलों को 'बेहतर' तालीम के एकमात्र जरिए के तौर पर भी देखने की प्रवृत्ति मजबूत हुई है और मीडिया इस प्रवृत्ति से मुक्त नहीं है। एक और संभावना यह भी है कि मीडिया इस मसले में खुद को अभिभावकों (या उपभोक्ताओं) के पैरोकार की भूमिका में रखने की कोशिश कर रहा है।

जहां तक शिक्षा अधिकार कानून के तहत आर्थिक रूप से कमजोर वर्गों के लिए निर्धारित 'कोटा' के तहत होने वाले दाखिलों का सवाल है, तालीम के आंदोलनों में एक शंका पहले से व्यक्त की जाती रही है कि इससे तालीम के हक का सार्वजनिक विमर्श काफी हद तक इस छोटे (और भ्रामक) दायरे में सिमट कर रहा जाएगा। दूसरी शंका यह रही है कि इस प्रावधान से इस आम मान्यता को मजबूती मिलेगी कि अच्छी तालीम सिर्फ निजी स्कूलों में ही मिलती है। इस अध्ययन में यह दोनों शंकाएं काफी हद तक वाजिब दिख रही हैं।

दाखिले की इन खबरों को देखकर लगता है कि हमारे देश में बेहतर तालीम की सभी उम्मीदें निजी स्कूलों की चौखट पर जाकर रुक जाती हैं। तालीम के नाम पर स्कूलों के भीतर क्या हो रहा है (चाहे वे निजी हों या सरकारी) इस बारे में कोई खास गंभीर चिंता इन अखबारों में नहीं दिखाई देती और इनके आधार पर हम सुरक्षित तौर पर यह दावा भी कर सकते हैं कि यह पूरे हिंदी मीडिया में ही एक गौण मुद्दा है। ध्यान देने की बात यह है कि मीडिया के इस रुख से निजी स्कूलों की मिथकीय छवि मजबूत होती है जो स्कूली तालीम के निजीकरण के लिए बहुत उपयोगी है।

शिक्षा अधिकार कानून के प्रावधानों के अंतर्गत निजी स्कूलों की मान्यता का मसला तीनों ही अखबारों में प्रमुखता से उठाया गया है। दिल्ली के दोनों अखबारों में दिल्ली सरकार द्वारा गैर-मान्यता प्राप्त निजी स्कूलों को बंद करने के आदेश और निजी स्कूलों द्वारा उसके विरोध की खबरों को प्रमुखता दी गई है।

इन खबरों में निजी स्कूल प्रबंधन और निजी स्कूलों के संगठन के पक्ष को काफी महत्व दिया गया है। साथ ही इन स्कूलों के बच्चों द्वारा स्कूल बंद न किए जाने के लिए किए गए विरोध प्रदर्शन को भी अच्छी-खासी जगह दी गई है। लेकिन सरकारी आदेश किन आधारों पर निकाला गया है इसकी चर्चा नहीं है। गौरतलब है कि शिक्षा अधिकार कानून के तहत स्कूल की मान्यता के लिए कुछ न्यूनतम शर्तें हैं जो तालीम की बुनियादी सुविधाओं से जुड़ी हैं। (यह बता दें कि इन शर्तों की पर्याप्तता को लेकर तमाम सवाल उठाए जाते रहे हैं लेकिन उस पर हम यहां कोई टिप्पणी नहीं कर रहे हैं)। जो स्कूल इन बुनियादी सुविधाओं को नहीं पूरा करते उनको ही बंद करने का आदेश सरकार दे सकती है। लेकिन इस जानकारी के अभाव में इन खबरों के पाठक यह अंदाजा लगा सकते हैं कि सरकार का आदेश न सिर्फ नाजायज है बल्कि वह खासतौर से इन स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों की तालीम के खिलाफ है।

निजी स्कूलों से ही जुड़ी कुछ और खबरें फीस बढ़ोतरी व अन्य मामलों में स्कूल प्रबंधन की मनमानी पर केंद्रित हैं। इन खबरों से निजी स्कूल प्रबंधन की खामियों को उजागर करने के बावजूद निजी स्कूलों या निजीकरण की वैधता पर सवाल नहीं उठाया गया है। यह भी गौरतलब है कि सरकारी स्कूलों के प्रबंधन को लेकर अखबारों में ऐसी तत्परता नहीं देखने को मिली (सरकारी स्कूलों की खस्ता हालत पर केवल एक खबर मिली)। जबकि अगर स्कूलों और बच्चों के नामांकन की संख्या को देखें तो साधारण सरकारी स्कूलों को उस अनुपात में ज्यादा जगह मिलनी चाहिए।

अगर सरकारी स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों की सामाजिक-आर्थिक पृष्ठभूमि (वर्ग, जाति, जेंडर, धर्म, स्थान आदि) को भी देखें तो मीडिया के पक्षपाती रवैये की तमाम परतें उजागर होने लगेंगी। यह भी गौरतलब है कि सरकारी स्कूलों की खराब हालत पर खबर तो है मगर इस संदर्भ में गंभीर नीतिगत विश्लेषणों का अभाव है। बल्कि जिस तरह की खबरें व अन्य सामग्री अखबारों में छपी हैं उसे पढ़कर कोई पाठक यह नहीं समझ सकता कि बढ़ता निजीकरण और सरकारी स्कूलों की बदहाली अनायास घटनाएं नहीं बल्कि ठोस नीतियों का नतीजा हैं।

इसी से जुड़ा एक और महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि निजी स्कूलों में पढ़ने वाले बच्चों के अभिभावकों की आवाज को तो अखबारों में जगह मिली है लेकिन सरकारी स्कूलों के अभिभावकों की आवाज नदारद है। जबकि अगर अभिभावकों की आवाज महत्वपूर्ण है तो सरकारी स्कूलों के अभिभावकों को भी जगह मिलनी चाहिए। क्या इसके अभाव को हम मीडिया के वर्गवादी और जातिवादी रुझान से जोड़कर देख सकते हैं? आखिरकार सरकारी स्कूलों के अभिभावक आमतौर पर गरीब-दलित तबकों से ही आते हैं। यह प्रवृत्ति अंग्रेजी अखबारों में भी देखने को मिली।

गुणवत्ता का सवाल

तालीम की गुणवत्ता में हम स्कूलों में बुनियादी सुविधाओं की स्थिति, शिक्षा पद्धति और पाठ्यचर्या से जुड़े मसलों को रखेंगे। इस श्रेणी में ज्यादातर खबरें दिल्ली सरकार द्वारा शुरू किए गए 'मिशन बुनियाद' से जुड़ी हुई हैं। इसके अलावा केंद्र सरकार के 'समग्र शिक्षा अभियान', नीति आयोग की पहल, बच्चों में गणित का डर दूर करने के लिए बनी कमेटी की खबर, बजटीय आवंटन (दिल्ली और म. प्र. सरकार), सरकारी स्कूलों की खस्ता हालत, नेशनल एचीवमेंट सर्वे की जानकारी, बस्ते के बोझ पर एक लेख, 'ड्रॉप-आउट' (बीच में पढ़ाई छोड़ने वाले) बच्चों के लिए वायनाड (केरल) के कलेक्टर की एक पहल की खबर और मध्य प्रदेश में सरकारी स्कूलों की पाठ्यचर्या में कहानियों को शामिल किए जाने की एक खबर है।

गुणवत्ता से जुड़ा एक और मसला जो काफी विवादित रहा है वह है शिक्षा अधिकार कानून में फेल नहीं करने की नीति। इससे जुड़ी दो महत्वपूर्ण खबरें हमें देखने को मिलीं। एक खबर के अनुसार एनसीईआरटी ने सरकार से इस

नीति को वापस नहीं लेने की सलाह दी है क्योंकि इसके चलते पढ़ाई छोड़ने वाले बच्चों की संख्या में काफी कमी आई है। दूसरी खबर मानव संसाधन विकास से जुड़ी संसदीय समिति की रपट की है जिसमें दावा किया गया है कि ज्यादातर राज्य इस नीति को खत्म करने के पक्षधर हैं।

अगर इन खबरों पर ध्यान दें तो यह पाएंगे कि तालीम की गुणवत्ता से जुड़े कुछ बेहद जरूरी मसलों पर इन अखबारों की नजर नहीं जा रही है। तालीम में गुणवत्ता का सवाल कई व्यापक सवालों से जुड़ा हुआ है - मसलन, तालीम का मकसद क्या है; तालीम के जरिए समाज या देश किस तरह के इंसान बनाना चाहता है; समाज, संस्कृति, राजनीति में कौन से मूल्य हावी हैं और वे किस तरह तालीम को प्रभावित कर रहे हैं वगैरह। इन सवालों से जुड़ी कोई सामग्री न हिंदी और न ही अंग्रेजी अखबारों में मिली। इसके अलावा, तालीम में गुणवत्ता को लेकर जो अलग-अलग नजरिये हैं, चाहे वे अकादमिक क्षेत्र में हों या तालीम के हक से जुड़े आंदोलनों में, इन अखबारों में देखने को नहीं मिले। इससे यह भी लगता है कि तालीम की गुणवत्ता का अखबारी विमर्श न सिर्फ मात्रा में बल्कि अपनी विषयवस्तु में भी बेहद सिमटा हुआ है। चाहे वह तालीम के दूरगामी और बुनियादी उद्देश्यों की बात हो या फिर पाठ्यचर्या, शिक्षण पद्धति, पाठ्यक्रम और शिक्षकों की तैयारी आदि से जुड़े सवाल हों या शिक्षा पर सार्वजनिक खर्च में लगातार की गई कटौती और उसके चलते सरकारी स्कूलों की बدهाली का सवाल हो, ये मीडिया की प्राथमिकता में नहीं आते।

गुणवत्ता का सार्वजनिक विमर्श काफी हद तक इम्तहान में मिले नंबरों तक सीमित है और इसके केंद्र में पढ़ाई में 'कमजोर' बच्चों की तालीम ही है। मुख्यधारा का मीडिया भी इस सीमा को पार नहीं कर पा रहा है। एक और महत्वपूर्ण बात यह है कि निजी स्कूलों में दी जाने वाली तालीम की गुणवत्ता से जुड़ी खबरें नहीं हैं। इससे क्या हम यह नतीजा निकाल सकते हैं कि इस मामले में निजी स्कूलों की 'श्रेष्ठता' को मीडिया बिना किसी सवाल के स्वीकार करने को तैयार है?

यहां यह कहना भी जरूरी है कि चाहे वह इम्तहान में फेल नहीं करने की नीति हो या गुणवत्ता का सवाल हो, इस पूरे मसले पर सिर्फ मीडिया ही नहीं, बल्कि सरकार और काफी हद तक पूरे समाज की समझ पर औपनिवेशिक छाप देखने को मिलती है। इसमें शिक्षा का बुनियादी सरोकार इससे है कि किसी तरह "अयोग्य" और "प्रतिभाहीन" लोगों की भीड़ में से कथित "योग्य" और "प्रतिभाशाली" लोगों का चयन कर लिया जाए। इस तरह तालीम में गुणवत्ता अभिन्न रूप से "मेरिट" के मिथक से भी जुड़ जाती है जिसकी जड़ में एक किस्म का औपनिवेशिक नस्लवाद और ब्राह्मणवाद रहा है जहां श्रेष्ठता की सिर्फ एक कसौटी है - परीक्षा में मिले नंबर! इसे अगर हम अपनी राष्ट्रीय विफलता कहें तो पूरी तरह गलत नहीं होगा कि हम आज तक सीखने की प्रक्रिया को परीक्षा में फेल या पास होने के कठोर सांचे के बाहर रखकर देखना सीख ही नहीं पाए हैं और मीडिया इसका कोई अपवाद नहीं है।

एक और विडंबना है कि हर मामले में पश्चिम के मुल्कों के बराबर या उनसे आगे जाने की लालसा रखने वाले देश में तालीम की गुणवत्ता और मूल्यांकन के पश्चिमी देशों के अनुभव और विमर्श को जानने की कोई गंभीर कोशिश नहीं दिखती। अखबारों में भी नहीं, चाहे वे हिंदी के हों या अंग्रेजी के।

शिक्षक

सरकारी स्कूल के शिक्षक ऐतिहासिक तौर पर हमारी शिक्षा व्यवस्था के सबसे असहाय मोहरे रहे हैं लेकिन सार्वजनिक विमर्श में उनकी छवि अक्सर इस व्यवस्था की दुर्दशा के लिए जिम्मेदार खलनायकों जैसी ही बनाई जाती है। और इसका असर सरकारी कार्यवाहियों पर भी दिखता है।

ऐसी एक मिसाल दिल्ली के अखबारों में छपी वे खबरें हैं जिनसे पता चलता है कि दिल्ली सरकार ने परीक्षाओं में विद्यार्थियों के 'खराब प्रदर्शन' के लिए शिक्षकों को 'कारण बताओ' नोटिस जारी किया। न तो सरकार ने और न ही मीडिया ने यह जानने की जहमत उठाई कि इम्तहान में 'खराब प्रदर्शन' की क्या वजहें हो सकती हैं। इससे जुड़ी एक खबर में जरूर दिल्ली के एक शिक्षक संगठन के हवाले से शिक्षकों की कमी को इसका एक कारण बताया गया है।

इसके अलावा शिक्षकों से जुड़ी ज्यादातर खबरें उनके वेतन (बढ़ोतरी की मांग, बकाया वेतन आदि), नियुक्तियों, पदोन्नति और खाली पदों से जुड़ी हुई हैं। शिक्षकों के शिक्षण की गुणवत्ता से जुड़ी दो खबरें हैं जिनमें केंद्र सरकार के कुछ प्रस्तावों की जानकारी दी गई है। अंग्रेजी अखबारों में हमें शिक्षकों द्वारा विद्यार्थियों को परेशान किए जाने या कठोर सजा देने के बारे में भी कुछ खबरें देखने को मिलीं।

गौरतलब है कि निजी स्कूलों के शिक्षकों से जुड़ी कोई खबर हमें अपने अध्ययन में नहीं मिली। यह अपने आप में बड़ा दिलचस्प है कि निजी स्कूलों में दाखिले को लेकर जहां अखबारों में काफी जगह निकल आती है वहीं इन स्कूलों में जो लोग पढ़ा रहे हैं उनकी हालत की खबर मीडिया नहीं लेना चाहता। ऐसे में क्या हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि अखबारों ने इस मामले में निजी स्कूलों में हस्तक्षेप न करने की अघोषित नीति अपना रखी है? यह गंभीर मामला है क्योंकि निजी स्कूलों की बढ़ती संख्या के मद्देनजर स्कूल व्यवस्था असंगठित श्रम का बड़ा केंद्र हो सकता है जहां श्रमिकों यानी शिक्षकों के हितों की सुरक्षा का कोई नियम-कानून देश में नहीं है और यह मुद्दा हमारे मीडिया विमर्श से एकदम गायब दिखता है।

कुल मिला कर, हिंदी और अंग्रेजी दोनों के अखबारों में शिक्षकों के प्रति आमतौर पर और सरकारी स्कूलों के शिक्षकों के प्रति खासतौर पर हमें एक किस्म का दुराव देखने को मिला। यह बड़े दुर्भाग्य की बात है कि शिक्षकों को लेकर हमारे समाज में और मीडिया में एक गहरी शंका पैठ बनाए हुए है। इस समझ का सर्वथा अभाव है कि जिस व्यवस्था को चलाने में शिक्षकों की बड़ी भूमिका है उसमें उन्हें उचित सम्मान और स्वायत्तता दिए बिना सुधार का कोई कार्यक्रम सफल नहीं हो सकता।

कहने की जरूरत नहीं कि शिक्षकों और शिक्षण के पेशे से जुड़े विमर्श को सार्थक दिशा देने में मीडिया सकारात्मक भूमिका निभा सकता है। संवेदनशील और गुणवत्तापूर्ण शिक्षण के क्या आयाम होते हैं इस चर्चा को जगह दे सकता है। इसके अलावा, दंडात्मक कार्यवाही का डर दिखाकर बेहतर नतीजे लाने का दबाव बनाने की नीतियों की विफलता के पश्चिमी देशों, मिसाल के लिए अमरीका, के अनुभवों को भी समझने की जरूरत है और इसमें मीडिया एक जरूरी हस्तक्षेप कर सकता है।

क्या नतीजे निकालें

हमारे अध्ययन की अपनी सीमाएं हैं। इसके बावजूद कुछ व्यापक रुझानों को रेखांकित किया जा सकता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि स्कूली तालीम से जुड़ा मीडिया विमर्श बेहद सीमित दायरे में जकड़ा हुआ है। स्कूली शिक्षा की संरचनागत चुनौतियों, पाठ्यचर्या से जुड़े बुनियादी सवाल, शिक्षा के उद्देश्य के सवाल, शिक्षा में वर्ग, जाति, जेंडर, भाषा, विकलांगता आदि से जुड़ी गैर-बराबरियों के सवाल और शिक्षा संबंधी तमाम वैकल्पिक नजरिये व आलोचनात्मक विचार, नीतिगत विश्लेषण मुख्यधारा के मीडिया परिदृश्य से गायब हैं। बल्कि इन मसलों पर जो एक 'कॉमनसेंस' समझ है मीडिया में भी वही हावी नजर आती है। ऐसे में हम यह उम्मीद कैसे कर सकते हैं कि मीडिया स्कूली शिक्षा को लेकर परिपक्व और गंभीर विमर्श का रास्ता खोल पाएगा?

साथ ही, शिक्षा प्रणाली के दो सबसे खास किरदारों, यानी बच्चे और शिक्षक, इनकी आवाज भी अखबारों में आमतौर पर नहीं ही मिलती या मिलती भी है तो बड़े सीमित से दायरे में जिसका जिक्र ऊपर किया गया है। शिक्षा नीति से जुड़े सवालों पर तो इनकी आवाज लगभग गायब ही है।

नव-उदारवादी नीतियों पर आधारित शिक्षा का 'आधिकारिक' विमर्श ही मीडिया के विमर्श का आधार है। इसका एक खास पहलू है शिक्षा के बारे में आमतौर पर मानव संसाधन विकास के नजरिये का दबदबा। इसमें सबसे गहरी छाप एक तरफ तो शिक्षा से जुड़ी मध्यम-वर्गीय अपेक्षाओं व सरोकारों की हैं, और दूसरी तरफ, कॉरपोरेट जगत की प्राथमिकताओं की। ऐसे में शिक्षा व्यवस्था को बराबरी, न्याय, और विविधता जैसे मूल्यों की कसौटी पर कसने की संभावना कम ही बचती है।

शिक्षा अधिकार कानून 2009 के प्रावधानों और पिछले लगभग एक दशक के क्रियान्वयन के अनुभव ने यह दिखाया है कि राज्य पूंजी के हितों को सुरक्षित रखने और उसे आगे बढ़ाने के लिए किस तरह की रणनीतियों का इस्तेमाल करता है। इस कानून ने सार्वजनिक शिक्षा व्यवस्था में निजीकरण को बढ़ावा देने के लिए अधिकार, समानता और भागीदारी की शब्दावली को अपने खाके में समायोजित कर लिया है। लेकिन मीडिया इस मसले पर चुप्पी साधे हुए है।

इसके अलावा, शिक्षा को इंसान के बुनियादी अधिकार की तरह देखने के लिए जिस तरह की समझ और नजरिये की जरूरत होती है वह हमें इन अखबारों में नहीं मिली। साथ ही, इस मामले में जो व्यापक शोध, अध्ययन व विमर्श पिछले कुछ दशकों में निर्मित हुआ है उसके लिए भी मीडिया में जगह नहीं देखने को मिलती है। सवाल उठता है क्यों?

इसकी कई वजहें हो सकती हैं, जिनमें से कुछ का जिक्र करना प्रासंगिक होगा। पहला, मीडिया कर्मियों - और खासतौर से खबरों के चयन व प्रस्तुतिकरण के फैसले लेने के स्तर पर काम कर रहे पत्रकारों व संपादकों की वर्ग, जाति, जेंडर आदि विभेदों में रची-बसी सोच जो समाजीकरण की प्रक्रिया का नतीजा होती है। दूसरा, पत्रकारिता की शिक्षा में अकादमिक शोध व विमर्श से सार्थक संवाद करने के प्रशिक्षण का अभाव। तीसरा, मीडिया का राजनीतिक चरित्र जो मीडिया संस्थानों के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक हितों से तय होता है। गौरतलब है कि कॉर्पोरेट-नियंत्रित व्यावसायिक मीडिया संस्थानों के प्रत्यक्ष आर्थिक हित सार्वजनिक क्षेत्र के निजीकरण से जुड़े हुए हैं जिसमें स्कूल व्यवस्था भी शामिल है।

जाहिर है कि स्कूली तालीम को लेकर जो सार्वजनिक विमर्श हो रहा है उसके लिए इस तरह की स्थिति बहुत अच्छी नहीं कही जाएगी क्योंकि खासतौर से मुख्यधारा का मीडिया इस विमर्श में एक तरह की सतही सोच को ही स्थापित कर रहा है। हां, इतना जरूर कहा जा सकता है कि हमारे देश का मीडिया इस मामले में कोई अकेला 'गुनहगार' नहीं है। हम अपने अध्ययन में जिन नतीजों पर पहुंचे हैं वे काफी हद तक इस मसले पर दूसरे देशों में हुए अध्ययनों से मिलते-जुलते हैं जिनमें यह देखा गया है कि मीडिया में ताकतवर तबकों के आर्थिक, राजनीतिक व सांस्कृतिक हितों को ही सबसे ज्यादा जगह मिलती है। इस तरह, मीडिया जटिल सामाजिक प्रक्रियाओं की एक आधी-अधूरी व विभाजित तस्वीर पेश कर रहा है जिससे गैर-बराबरी पर टिकी दमनकारी संरचनाओं को वैधता मिलती है। ♦

लोकेश मालती प्रकाश : सामाजिक कार्यकर्ता व लेखक। अखिल भारत शिक्षा अधिकार मंच से संबद्ध।

निशा थापलियाल : युनिवर्सिटी ऑफ न्यूकैसल, ऑस्ट्रेलिया में तुलनात्मक शिक्षाशास्त्र की प्राध्यापक व सामाजिक कार्यकर्ता।

संपर्क : 9407549240; **ईमेल :** lokeshmaltiprakash@gmail.com